



मध्यकालीन संत साहित्य की सांस्कृतिक चेतना का अध्ययन

सरिता देवी

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा, मध्य प्रदेश, भारत।

सारांश

वातावरण, वैयक्तिक परिस्थितियाँ, भौतिक साधन व्यक्ति और समाज की सांस्कृतिक चेतना को स्वरूप देते रहे हैं। प्रकृति की सीमाओं में मनुष्य ने जो विजय चाही उसका भौतिक स्वरूप, सभ्यता और आत्मिक, अध्यात्मिक अथवा मानसिक स्वरूप संस्कृति है। सभ्यता बाह्य प्रकृति पर हमारी विजय गर्व ध्वज है और संस्कृति अन्तः प्रकृति और विजय प्राप्ति की सिद्ध सामाजिक संस्थान, आर्थिक प्रेरण प्रक्रिया और भौगोलिक स्थिति की भूमिका मानसिक घात-प्रतिघात, क्रिया-प्रक्रिया और ज्ञानात्मक विकास होते हैं। सांस्कृतिक चेतना कई भूमिकाओं, समष्टिगत परिणाम और जीवन की इकाई पूर्ण प्रेरणा है। संस्कृति वह संगम है, जो जीवन की संगति और सामंजस्यपूर्ण सतत् प्रवहमान चौर-चैतन्य धारा की इकाई है। सामाजिक भूमिका में मानवार्जित क्षमता का एवं ज्ञान आस्था, कला, नैतिकता, कानून, रीति-नीति को स्वरूप देती है। जीवन की भौतिक प्रणाली आध्यात्मिक प्रेरणा को स्वरूप देती है और आध्यात्मिक सांस्कृतिक चेतना भौतिकता का अनुशासन है। नाना प्रकार की धर्म-साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा-भक्ति अथवा योग मूलक अनुभूतियों में जीवन का सत्य ही व्यापक और परिपूर्ण रूप प्राप्त करता रहा है। जन्म जात संस्कार, भौतिक प्रणाली, सांस्कृतिक चेतना की भूमिका में जीवन अनुप्राणित, नियन्त्रित और अनुशासित होता रहा है।

मूल शब्द : मध्यकालीन, संत साहित्य, सांस्कृतिक, चेतना।

प्रस्तावना

संस्कृति के क्षेत्र में देश, धर्म और जातिगत आधार का विचार उपयुक्त नहीं। मूलतया मानव-मात्र की सांस्कृतिक चेतना पूर्ण इकाई है, जो कुछ विभिन्नता दिखाई पड़ती है वह अभिव्यक्ति के साधनों की सीमा और परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण परम्परा के विकास, सामाजिक परिवेष्टन के नवीन स्वरूप और अन्य संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन के कारण सांस्कृतिक चेतना में अन्तर आता है। एक ही समाज में विभिन्न स्वरूप होते हैं और सांस्कृतिक चेतना इन विभिन्न स्तरों में पृथक-पृथक स्वरूप लेगी। समाज का वर्गीय विभाजन सांस्कृतिक स्वरूप की सीमा और अनुशासन है।

ऐसे तो स्पष्ट सैन्धव को आर्यों का आदि देश मानने वाले विचारकों का अभाव नहीं। उनके अनुसार आर्य लोग न तो ध्रुव-प्रदेश में रहते थे, न मध्य एशिया में, न पश्चिमोत्तर यूरोप में। उनका घर सप्त-सिंधव में ही था। यहीं से उनकी संस्कृति दूर देशों तक गई।¹ अधिकांश विद्वानों के मतानुसार, आर्य कहीं बाहर से अवश्य आये। भारतीय संस्कृति संगम में तीन स्पष्ट धाराएँ दिखाई पड़ती हैं – आर्य समूह की संस्कृति, आर्योत्तर मूल सैन्धव संस्कृति एवं आर्य-आर्योत्तर संस्कृति संगम। काल क्रम में इनकी सीमाएँ परस्पर घुलती-मिलती रही।

गुप्तकाल में आकर संस्कृति के भारतीय स्वरूप ने एक निश्चित दिशा ग्रहण कर ली थी। ब्राह्मण धर्म और तर्जुनत विचारधारा के प्रभाव के कारण विशिष्ट शैली का विकास हुआ था। इस काल में ललित कलाओं को असाधारण सफलता मिली, सम्राटों के संरक्षण में कवि संगीतज्ञ, शिल्पी और चित्रकार अपनी कलाओं के उत्तरोत्तर विकास में संलग्न थे। मूर्तिकला के मध्य आदर्श स्वरूप अनेकानेक हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियों का निर्माण हुआ। अन्य धर्मों की मूर्तियाँ भी मनोहारिणी हैं। गुप्तकालीन तक्षकों की कला विमुग्धकारिणी है। अजन्ता के अनेक भित्ति चित्र इसी काल में चित्रित हुए थे। अविलोकतेश्वर का तात्विक विचार मग्न ध्यानी बुद्ध की भावपूर्ण मुद्रा अवलोकनीय हैं, इसके चतुर चित्तरों की सफाई अवर्णनीय है। साहित्य और वाङ्मय के क्षेत्र में यह युग

अतुलनीय है। संस्कृत साहित्य की जितनी समृद्धि इस काल में हुई उतनी और कभी नहीं। समुद्रगुप्त, विद्याव्यसनी, गुणज्ञ, कलाकार, शास्त्र में अकूटिता बुद्धि विलासी और कविराज संज्ञा से लाञ्छित था। कालिदास, विशाखदत्त, अमर सिंह, धन्वतरि जैसे कवि, नाट्यकार, कोणकार और चिकित्स उस युग में हुए। उत्तर गुप्त काल में भी आर्य भट्ट, वराह मिहिर और ब्रह्म गुप्त ने ज्योतिष और गणित के ज्ञान को समृद्ध किया।

भारत का सांस्कृतिक विकास

बौद्धकालीन चेतना में वैदिक आचार-प्रधान वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध सशक्त स्वर सुनाई पड़ता है। दीघनिकाय के अनुसार, आचार की कसौटी पर कसे जाने पर सभी खरे नहीं उतर सकते थे। ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते और ब्रह्मा के सम्बन्ध में मिथ्या भाषण करते थे। क्षत्रियों में कितने जीव हिंसक, मिथ्यालापी और मिथ्याचारी थे।² वस्तुतः सांस्कृतिक चेतना के स्तरों में उच्चवर्गीय चेतना और निम्नस्तरीय धारणा का पार्थक्य सदा रहा। भारतीय संस्कृति को ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय संस्कृति कहना उचित नहीं। उच्चवर्गों में नृत्य, गीत, नाटक-लीला, वाद्य, अश्लील भाव प्रदर्शन एवं जीव जन्तुओं को लड़ाना-भिड़ाना, कुशती, जुआँ आदि मनोरंजन के साधन थे। सौन्दर्य प्रसाधन के रूप में अंजन, माला, मुख चूर्ण का उपयोग होता था³ और चारित्रिक रखलन के उदाहरणों का अभाव नहीं था।

जातक कथाओं में सांस्कृतिक चेतना के विभिन्न स्तरों की झांकी मिलती है। अभिजात्य वर्गों की ऐश्वर्यमयी विलासिता, कला-प्रियता के साथ साधारण जनता की निरीहता, विवशता और मर्मभरी व्यथा के स्पष्ट दर्शन होते हैं। दुर्बलों का घात होता था, अनौचित्य का आधिक्य था, चोर दण्ड से बच जाता था और चोर फंस जाता था, राज्याधिकरण पक्षपाती था।⁴ राजकुल में उत्पन्न व्यक्ति दण्ड से बच जाते थे। शासक वर्ग प्रमादी था।⁵ जिन घाटों में निम्नवर्गीय व्यक्ति स्नान करते थे। उन घाटों पर उच्चवर्गीय अहंकार पूर्ण व्यक्ति स्नानादि कर्म करना अपमान जनक समझते थे।⁶ जातकों में समाज की उस अवस्था के स्पष्ट

संकेत मिलते हैं जो मध्यकाल में दिखाई पड़ती है यद्यपि उसमें स्थान्तर कम नहीं हुआ था। अभिजात्य वर्ग का असाध सुखोपभोग, सुख के साधनों पर उनका एकाधिपत्य एवं विलासपूर्ण कला की मान्यता दिखाई पड़ती है। निम्न वर्ग की कुण्ठित चेतना, उनके जीवन और धारण को स्वरूप होती थी। ग्रामाधिकारियों का अत्याचार, चोरों का भय, करों की भयानकता, अभावग्रस्त करुणिक जन-जीवन के स्पष्ट चित्र इन कथाओं में प्राप्त हैं। ग्रामीण जनता हतचेत मूर्ख और अटट गंवार थी। उनकी सांस्कृतिक चेतना सजग नहीं थी। उनकी सरलतापूर्ण मूर्खता की अनेकानेक कथाएँ जातकों में मिलती हैं, अन्धविश्वास का साम्राज्य था। ज्योतिष्यों और नक्षत्र योग बतलाने वालों का अधिक सम्मान था।¹⁷ देवी-देवता के लिए भेड़, बकरी, मुर्ग आदि की बलि दी जाती थी। वृक्षों की पूजा होती थी, वनों में वन प्रतिग्राहक देवताओं की प्रतिमा बनाकर बलि-पूजा की जाती थी।¹⁸ जन्त-मन्तर में विश्वास अधिक था। झाड़ू-फूंक करने वाले ओझा गुनी अधिक थे।

सांस्कृतिक चेतना का नवीन संस्कार

गुप्त साम्राज्य की विश्रुंखलता के साथ भारत की केन्द्रीय एकता नष्ट हो गयी, यद्यपि विश्रुंखल शक्तियों के एकीकरण का प्रयास सकलोटतरापथनाथ हर्ष ने किया। हर्ष विद्याव्यसनी और विधाओं का संरक्षक था। हर्ष चरित और कादम्बरी की रचना उसी काल में हुई। प्रियदर्शिका, रत्नावली एवं नागानन्द के रचयिता के रूप में भी हर्ष प्रसिद्ध है किन्तु इनके हर्ष चरित होने में विद्वानों को संदेह है। राजपूत काल के विभिन्न सम्राट विद्याव्यसनी और कला प्रेमी थे, उनके संरक्षण में साहित्य और शिल्प कलाओं का विकास हुआ किन्तु इतना स्पष्ट है कि कलाओं में नवीन कदाम्बनाओं के दर्शन नहीं होते। यशोवर्मन के समकालीन भवभूति और वाक्यतिराज थे। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न राज्यों की स्थापना और जड़ीभूत जीवन की चेतना हीनता साहित्य और कला के क्षेत्र में परिलक्षित हुई।

मध्यकाल में यद्यपि संस्कृत में साहित्य रचना होती रही, भवभूति, राजशेखर, जयदेव प्रभृति प्रतिष्ठित कवि हुए किन्तु संस्कृत से अधिक उन्नति प्राकृत साहित्य की हुई। हर्षवर्धन के विभिन्न साम्राज्य के मग्नावशेष पर जिन राज्यों का संगठन हुआ उनके अधिकांश अधिपति साधारणतया परम्परागत आर्य नहीं, बल्कि आर्यकृत हिन्दू थे। अपभ्रंश भाषाओं का विकास इसी काल में होता है जिसके उत्तर विकास के रूप में हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, उड़िया, आसामी, पंजाबी आदि आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं। नाटकों में जिन्हें विभाषा कहा गया है वे विभिन्न जातियों की भाषाएँ होंगी – इस वराभीर चाण्डाल सचरद्रविडोद्र जा। टीना बनेचराणां च विभाषा नाटक स्मृता।¹⁹ ऐसी जातियाँ जब राज्यपद पर प्रतिष्ठित हुई तो अपनी भाषाओं को भी महत्व दिया। अपभ्रंश भाषा और उनके साहित्य का विकास भिन्नताओं से सम्बद्ध रहकर ही सम्भवतया बच पाया। जैन भाण्डगारों से अपभ्रंश की अनेकानेक रचनाएँ प्राप्त हुई। इनमें कुछ तो सिद्धान्त ग्रन्थ हैं और कुछ चरित काव्य हैं जिनमें चरित काव्य द्वारा उपदेश देने की चेष्टा है। जैनेतर साहित्य की उपेक्षा हुई है किन्तु इसके कुछ अंश प्राप्त हैं। स्फुट काव्यों में जो इन्दु (योगीन्द्र) के परमात्म प्रकाश तथा योगसार, मुनि राम सिंह का पुछुड़ दोहा है। सोभा प्रभका कुमार पाल प्रतिबोध, अद्वहमाण, (अद्वुर्हमान) का संदेश रासक अधिक महत्वपूर्ण है। हेमचन्द्र के उद्धरणों के स्फुट पद्य हैं जिनमें पूर्ण मात्रा में काव्यत्व है। अपभ्रंश के चरित काव्यों में स्यंभू का (रामायण) प्रदत्त के 'जसहर चरिद्र' षाय कुमार चरिउ (नाग कुमार चरित्र) और 'महापुराण' कलकामरका 'करकण्ड-चरिउ' हरिभद्र के 'सनत्कुमार चरित' और नेमिनाह चरिउ धनपाल का 'भविसयत्त कहा', प्रकाशित और महत्वपूर्ण हैं। गाँधर के 'हम्मीर रासो' और हम्मीर काव्य का उल्लेख मिलता है। 'वीरगाथा' की

कही जाने वाली रचनाएँ वस्तुतः उत्तर काल की रचनाएँ हैं और अपभ्रंश काल के चरित काव्यों की परम्परा के नवीन स्वरूप हैं। सामान्य जनता की धार्मिक भावनाएँ रूढ़ और परम्परागत रही। धर्म-परिवर्तन करने पर भी संस्कार ज्यों के त्यों रहे। अन्ध विश्वास और जड़ता से पिण्ड नहीं टूट सका। प्रचारकों ने भी मूढ़ जनता को ठगने और अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए उनकी सांस्कृतिक चैतन्य हीनता से लाभ उठाया। जन्त-मन्तर, भूत-प्रेत, झाड़ू-फूंक, और चमत्कारों के प्रति बद्धमूल आस्था रही। धार्मिक भावना का वह स्वरूप नहीं था जो शास्त्रों में वर्णित है, बल्कि उसमें शास्त्र बाह्याचार, आस्था और विश्वास का महत्वपूर्ण स्थान था।

इस्लाम के आगमन से हिन्दू अभिजात्य वर्ग की धारणाओं में अधिक रूढ़िवादिता आई, संकुचित मनोभाव का जागरण हुआ। भक्ति धारा को शास्त्र-सम्मत, शास्त्रीय एवं आगम-निगम प्रतिपादित कर वैष्णव धर्म को धारा में मिला दिया। वेद-विरोध, रूढ़िवाद, वैदिक आचार, वर्णाश्रम, पुस्तकीय ज्ञान के विरोध का स्वर जो पुरातन काल से सुनाई पड़ता रहा। गुप्तकालीन नवोहयीन हिन्दू धर्म का शासन सत्ता से विच्छेद होने के कारण स्पष्ट होने लगा था। सिद्धों और नावों की वाणी में बौद्ध धारणा का सूत्र प्राप्त होता है। समान और उसकी सांस्कृतिक चेतना के रूप में इस स्तर का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। निम्न कुलोदय व्यक्तियों ने अपनी उच्चता का जो प्रतिपादन किया उसका विरोध आभिजात्य वर्गीय हिन्दुओं द्वारा हुआ। तुलसी का खीझ भरा विरोध स्पष्ट है, कबीर का उत्तर देने के लिए भक्ति को श्रुति सम्मतलोक कल्याण का सोपान उन्होंने स्वीकार किया।

मानवीय वृत्तियों के परिष्कार को भी संत ने सहज और स्वाभाविक माना है और उसकी वास्तविक प्रकृति को विकास जन्य। कृतिमता का वह प्रबल विरोधी है। जाति-धर्म व्यवस्था, सम्पत्ति, धर्माचरण सदि विधि विधान को वह, अतः सहज ही छोड़ सका था। सत्य के सहज आलोक को देख सकने में संत समर्थ हो सका था, जो साधना, अभिव्यक्ति, भक्ति योगमूलक अनुभूतियों को आलोकित कर सकने में समर्थ हुआ।

निष्कर्ष

साधु सन्यासियों की दशा गृहस्थों से भिन्न नहीं थी। लोभी, वेशर्म, भिक्षुक अधिक थे। कार्षापाद, अर्धपाद, मावक आदि सिक्खों के लिए बाजार, चौरास्ते तथा राजद्वार पर उपदेश देते फिरते थे।¹⁰ गप मारने वाले, आत्म प्रशंसा करने वाले, ठग विद्या में पारंगत साधु चारों ओर घूमते फिरते रहते थे।¹¹ अजीवक निर्वस्त्र एवं घूलि मण्डित रहकर एकान्त वनों का सेवन करते थे। महा विकट भोजन करते, बछड़े आदि का गोबर खाते तथा ओढ़ने और बिछाने के लिए वस्त्र नहीं लेते और न आग ही तापते थे।¹² वे ग्रह नक्षत्र योग का विचार करते और गृहस्थ इनसे पूछताछ कर यदि पर्याप्त दक्षिणा नहीं देते तो क्रोध के कारण अहित साधन में तत्पर हो जाते थे।¹³ भिक्षों अथवा शिष्यों से झगड़कर भिक्षु सन्यासी आश्रम छोड़ खड़े होते, इधर उधर घूमते फिरते, मजदूरी अथवा नौकरी से जीविका निर्वाह करते एवं दरिद्र स्त्रियों से सहवास कर सन्तान उत्पन्न करते। ऐसे आश्रमयुक्त व्यक्ति का अत्यन्त निरादर होता था एवं पता लगने पर गाँव वाले उन्हें अपने यहाँ से मार भगाते ऐसे व्यक्तियों को अनेक प्रकार से कष्ट उठाने पड़ते।¹⁴ मध्यकालीन समय से यह समाज अधिक भिन्न नहीं था।

संत की सांस्कृतिक चेतना सम्बद्ध रूढ़ि सत्ता अथवा कलात्मक प्रयत्नों में नहीं देखी जा सकती, उसकी सांस्कृतिक चेतना उस अन्तःप्रेरणा को जागृत कर सकने में समर्थ हुई जो जीवन की पूर्णता की आकांक्षा, वृत्तियों के संस्कार और महत्ता दे सकी थी। अन्तरात्मा की स्वच्छता में ही सत्य के सहज आलोक की झांकी मिल सकती है। अतः इस दर्पण को स्वच्छ रखना आवश्यक है,

सदा इसे माजते रहने की अपेक्षा है। अन्तर चेतना की जागरूक द्वारा आत्म संस्कार की सांस्कारिक चेतना ही सहज भाव से सांस्कृतिक चैतन्य का स्वरूप ग्रहण करने में समर्थ हुई थी।

सन्दर्भ

1. सम्पूर्णानंद, आर्यों का आदि देश, प्रथम संस्करण 1, पृष्ठ 234
2. दी.नि., पृष्ठ 241
3. दी.नि., पृष्ठ 3-4 और पृष्ठ 251
4. जातक, पृष्ठ 228-229
5. जातक 1, 3, 22, पृष्ठ 230-31
6. तिथ्यजातक 1, 3, 25, पृष्ठ 240
7. जातक (प्रथम संस्करण), नक्खत, पृष्ठ 335
8. जातक पंचा., पृष्ठ 357
9. भ.मा. 17, 19
10. जातक, महासु., पृष्ठ 442-43
11. जातक, भीमसेन जातक, 1,8,80, पृष्ठ 462
12. जातक, नक्खत, (1,5,49), पृष्ठ 335
13. जातक, लोमहंस (1,10,94), पृष्ठ 511
14. जातक, लोसक, पृष्ठ 312